जैन साधना में ध्यान : स्वरूप और दर्शन

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

साधना-पद्धति में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व रहा है। कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुंच सकती है। यही कारण है, भारत की सभी परंपराओं ने ध्यान को महत्त्व दिया है। उपनिषद्-साहित्य में[१] ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में उसके महत्त्व को स्वीकृत किया है। तथागत बुद्ध ने भी ध्यान को बहुत महत्त्व दिया था। भगवान् महावीर ने ध्यान का गहराई से विश्लेषण किया है।

ध्यानशतक[२] में मन की दो अवस्थाएं बताई हैं—(१) चल अवस्था, (२) स्थिर अवस्था। चल अवस्था चित्त है और स्थिर अवस्था ध्यान है। चित्त और ध्यान—ये मन के ही दो रूप हैं। जब मन एकाग्र, निरुद्ध और गुप्त होता है तब वह ध्यान होता है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है। पर प्रवृत्ति-लब्ध अर्थ उससे जरा पृथक् है। ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना।[3] आचार्य उमास्वाति ने[४] लिखा है—"एकाग्र चिंता तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है।" इससे स्पष्ट है कि जैन परंपरा में ध्यान का संबंध केवल मन से ही नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति की निष्प्रकम्प स्थिति ही ध्यान है। आचार्य पतंजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से माना है।[५] उनका अभिमत है जिसमें धारणा की गई हो उस देश में ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता, जो अन्य ज्ञान से अपरावृष्ट हो, वह ध्यान है। सदृश प्रवाह से तात्पर्य है जिस ध्येय विषयक प्रथम वृत्ति हो उसी विषय की द्वितीय और तृतीय हो।[६] ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो। पतंजलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों चित्त के ही माने हैं। गरुड पुराण में[७] ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा है।

विशुद्धिमग्ग[८] के अनुसार ध्यान मानसिक है। पर जैनाचार्यों की यह विशिष्टता रही है कि उन्होंने ध्यान को मानसिक ही नहीं माना, किन्तु वाचिक और कायिक भी माना है। पतंजलि ने[९] जिसे संप्रज्ञात समाधि कहा है, वह जैन परिभाषा में शुक्ल ध्यान का पूर्व चरण है। पतंजलि ने जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहा है, उसे जैन परम्परा में शुक्ल ध्यान का उत्तर चरण कहा है।[१०] जो केवलज्ञानी है उसके केवल निरोधात्मक ध्यान होता है, पर जो केवलज्ञानी नहीं है उसके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक ये दोनों प्रकार के ध्यान होते हैं। आचार्य भद्रबाहु के सामने एक प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता ही है तो उसकी संगति जैन परंपरा, जो मानसिक, वाचिक और कायिक एकाग्रता को ही ध्यान मानती है, उसके साथ किस प्रकार हो सकती है?[११] आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत प्रश्न का

१. छान्दोग्योपनिषद्, ७-६, १/२
२. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चलं तयं चित्तं। ध्यानशतक, २
३. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा, १४/६३
४. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७
५. पातंजल योगदर्शन, ३/२
६. वही
७. ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं स्यात्। गरुडपुराण, अ० ४८
८. विसुद्धिमग्ग, पृ० १४१-५१
९. तत्र पृथक्त्ववितर्क-सविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये, संप्रज्ञातः समाधिवत्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। पातंजल योगसूत्र, यशोविजय, १/१८
१०. वही,
११. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान देते हुए कहा—शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन धातु हैं। उनमें से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता है। जैसे, वायु कुपित होने पर 'वायु कुपित है' ऐसा कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि पित्त और श्लेष्मा ठीक हैं। इसी तरह, मन की एकाग्रता ध्यान है—यह परिभाषा भी मन की प्रधानता को संलक्ष्य में रखकर की गई है।[1]

मेरा शरीर अकंपित हो, इस तरह दृढ़ संकल्प करके जो स्थिर-काय बनता है, उसे कायिक ध्यान कहते हैं।[2] इसी तरह दृढ़ संकल्प-पूर्वक अकथनीय भाषा का परित्याग करना वाचिक ध्यान है[3] और जहां पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के प्रति संलग्न होता है, शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं, वहां पर मानसिक, वाचिक और कायिक—ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[4] मन सहित काया और वाणी को जब एकरूपता मिलती है तो वह पूर्ण ध्यान है। उसमें अखण्डता होती है, एकाग्रता होती है। एकाग्रता स्वाध्याय में भी होती है और ध्यान में भी, किन्तु स्वाध्याय में एकाग्रता घनीभूत नहीं होती।

ध्यान में चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलंबन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है। चेतना के विराट् आलोक में चित्त विलीन हो जाता है वह ध्यान है। अतीत काल में त्रियोग के निरुन्धन को ध्यान कहा गया, पर उसके बाद आचार्य पतंजलि आदि के प्रभाव से जैनाचार्यों ने भी ध्यान की परिभाषाओं में कुछ परिवर्तन किया। वहां पर वाचिक और कायिक एकाग्रता को कम करके मानसिक एकाग्रता पर बल दिया। आचार्य भद्रबाहु ने चित्त को किसी भी विषय में स्थिर करने को ध्यान कहा है।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने[6] भी 'अभिधानचिंतामणि कोश' में इसी परिभाषा को दुहराया है। उन्होंने कहा—अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।

जहां तक चित्त स्थिर नहीं होगा वहां तक संवर और निर्जरा नहीं हो सकती और बिना संवर और निर्जरा के ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। सामान्य रूप से मानव की शक्तियां इधर-उधर बिखरी हुई रहती हैं। सिनेमा के चलचित्र की तरह प्रतिपल-प्रतिक्षण उसके विचार परिवर्तित होते रहते हैं। जब तक विकेन्द्रित विचार एकाग्र नहीं बनते वहां तक सिद्धि नहीं मिलती, भले ही उससे प्रसिद्धि मिल जाए। यही कारण है श्रीमद्भगवद्गीता[7], मनुस्मृति[8], रघुवंश[9] और अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक[10] में ध्यान का महत्त्व बताते हुए स्पष्ट कहा है—**ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते**। ज्ञान से ध्यान बढ़कर है। ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है। इसलिए उसमें बुद्धि की स्फुरणा होती है—**स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति**।

चित्त को किसी एक केन्द्र पर स्थिर करना अत्यन्त कठिन है। यह सत्य है कि किसी भी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक मन स्थिर नहीं हो सकता।[11] जब तक हम चंचल मन पर विजय-वैजयंती नहीं फहराते, तब तक ध्यान सम्भव नहीं।[12] जैसे जलाशय में हर क्षण तरंगें तरंगित होती रहती हैं वैसे ही मन में विचार-तरंगें उठती हैं। इन उठी हुई तरंगों को स्थिर करना ध्यान है। जिसने मन को जीता ही नहीं है, वह ध्यान क्या करेगा? मन को बिना वश में किये ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता। मलिन दर्पण में रूप नहीं निहारा जा सकता, वैसे ही रागादि भावयुक्त मन से शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता।

आराधनासार[13] में आचार्य ने यहां तक कहा है—प्रकाण्ड विद्वत्ता भी प्राप्त की हो, पर यदि सम्यक् प्रकार से ध्यान नहीं किया गया है तो सभी निरर्थक है। क्योंकि उस विद्वत्ता से आकुलता-व्याकुलता नहीं मिटेगी। आकुलता और व्याकुलता को मिटाने के लिए ध्यान एक संजीवनी बूटी है। ध्यान करते समय पूर्व संस्कारों के कारण यदि मन में चंचलता आये, तो घबराकर ध्यान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि निरन्तर अभ्यास से शनैः-शनैः वह चंचलता भी नष्ट हो जाती है।

ध्यान के यों अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद होते हैं—(१) अप्रशस्त ध्यान और (२) प्रशस्त

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १४६८-६९
२. वही, १४७४
३. वही, १४७६-७७
४. वही, १४७८
५. वही, १४५६, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।
६. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः। अभिधानचिंतामणि कोष, १/८४
७. श्रीमद्भगवद्गीता, १२/१२
८. मनुस्मृति, १/१२/६-७२
९. रघुवंश, १/७३
१०. शाकुन्तल नाटक, ७
११. (क) ध्यानशतक, ३; (ख) तत्त्वार्थसूत्र, ९/२८; (ग) योगप्रदीप, १५/३३
१२. ध्यानशतक, ८
१३. आराधनासार, १११

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

ध्यान। उसे अशुभ और शुभ ध्यान भी कह सकते हैं। आर्त ध्यान और रौद्रध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं और कर्म-बंधन के कारण हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान, ये दोनों प्रशस्त ध्यान हैं।

वैदिक परंपरा ने उन्हें क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान की संज्ञा दी है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रशस्त ध्यान के लिए कुशल शब्द का और अप्रशस्त ध्यान के लिए अकुशल शब्द का प्रयोग किया है। कुशल ध्यान से समाधि होती है क्योंकि वह अकुशल कर्मों का दहन करता है।[1] जो ध्याया जाए वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ध्यान है।[2] निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपने आत्मा में अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा के लिए अपने आत्मा के हेतु से और अपने आत्मा का ध्यान करता है, वही ध्यान कहलाता है।[3] यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष का हेतु है।[4]

ज्ञानार्णव में[5] ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध—ये तीन भेद किये गये हैं और जो अन्ततः आर्त, रौद्र आदि चार ध्यानों में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

(आचार्य शुभचन्द्र[6] और हेमचन्द्र ने[7] धर्मध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत, के इन चार अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।) धर्मध्यान के मौलिक रूप आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय के स्थान पर पिण्डस्थ आदि ध्यान प्राप्त होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य-भावना के स्थान पर पार्थिवी, आग्नेयी, वारुणी और मारुति, ये चार धारणाएं मिलती हैं। सम्भव है, इस परिवर्तन का जन-जन के मन में हठयोग और तंत्र शास्त्र के प्रति जो आकर्षण था जिसके कारण जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में उन विषयों का समावेश किया हो। विज्ञों का ऐसा मानना है पिण्डस्थ आदि जो ध्यान-चतुष्टय हैं उनका मूल स्रोत तंत्रशास्त्र रहा है। 'गुरुगीता' प्रभृति ग्रन्थों में ध्यान-चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है।

'नमस्कार-स्वाध्याय' में[8] ध्यान के अट्ठाईस भेद और प्रभेद भी मिलते हैं। यदि हम गहराई से अनुचिन्तन करें तो ये सभी भेद-प्रभेद आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल में समाविष्ट हो जाते हैं। हम यहां पर आर्त ध्यान और रौद्रध्यान के भेद-प्रभेद पर चिन्तन न कर सिर्फ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान पर ही चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं।

धर्म का अर्थ आत्मा को निर्मल बनाने वाला तत्त्व है। जिस पवित्र आचरण से आत्मा की शुद्धि होती है वह धर्म है। उस धर्म में आत्मा को स्थिर करना धर्म-ध्यान है। इसी धर्म-ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मरूपी काष्ठ को जलाकर भस्म करता है और अपना शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध, निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[9] धर्म-ध्यान के भगवती[10], स्थानांग[11] और औपपातिक[12] आदि में आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय ये चार प्रकार हैं। यहां विचय का अर्थ निर्णय अथवा विचार है। वीतराग भगवान की जो आज्ञा है, उनका निवृत्तिमय उपदेश है उसपर दृढ़ आस्था रखते हुए उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलना एवं निषिद्ध कार्यों का परित्याग करना, क्योंकि कहा है—आणाए तओ, आणाए संजमो,[13] आणाए मामगं धम्मं।[14] यह धर्म-ध्यान का प्रथम भेद आज्ञा-विचय है।

अपाय-विचय—अपाय का अर्थ दोष या दुर्गुण है। आत्मा अनन्त काल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण इस विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। इन दोषों से आत्मा किस प्रकार मुक्त हो सकता है, दोषों की विशुद्धि कैसे हो सकती है—इस विषय पर चिन्तन करना अपाय-विचय है।

विपाक-विचय—आत्मा जिन दोषों के कारण कर्म का बंधन करता है, मोह की मदिरा पीने के कारण कर्म बांधते समय अत्यन्त

---

१. विशुद्धिमग्ग
२. (क) तत्त्वानुशासन, ६६; (ख) इष्टोपदेश, ४७
३. तत्त्वानुशासन, ७४
४. (क) वही, ३४; (ख) ज्ञानार्णव, २५/३१
५. ज्ञानार्णव, ३/३८
६. वही, ३७/१
७. योगशास्त्र, ७/८
८. नमस्कारस्वाध्याय ग्रन्थ, पृ० २२५
९. ध्यानाग्निदग्धवर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरंजनः। हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र, ४/४।
१०. भगवती, २५/७
११. स्थानांग, ४/१
१२. औपपातिक, समवसरण प्रकरण, १९
१३. संबोधसत्तरि, ३२
१४. आचारांग, ६/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह्लादित होता है। पर ज्ञानी आत्मा कर्मों के विपाक को समझता है। वह जानता है कि आसक्ति-अज्ञान-मोह से बांधे हुए कर्मों का विपाक जब होता है तो अत्यन्त कष्ट होता है। सुख-विपाक और दुःख-विपाक में कथाओं के माध्यम से उन विपाकों पर चिन्तन किया है। इस ध्यान में कटु परिणामों पर चिन्तन होता है और उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

संस्थान-विचय—संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार पर चिन्तन करते हुए—मेरा आत्मा इन विविध योनियों में परिभ्रमण करके आया है—ऐसा विचारकर आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना।

धर्मध्यान करने वाले साधक के लक्षण और उपलंबन इस प्रकार हैं—धर्मध्यान के चार लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण (१) आज्ञारुचि है। यहां पर रुचि का अर्थ विश्वास, गहरी निष्ठा है। जिनेश्वर देव की आज्ञा में व सद्गुरुजनों की आज्ञा में पूर्ण विश्वास रखना, उस पर आचरण करना। यदि जिनेश्वर देव की आज्ञा में और जिनेश्वर देव पर निष्ठा नहीं है, उस कार्य को करने की लगन नहीं है तो वह कार्य किस प्रकार कर सकेगा? इसलिए सर्वप्रथम जिनाज्ञा में रुचि होना आवश्यक है। दूसरी निसर्ग रुचि है। धर्म पर और सर्वज्ञ पर सहज श्रद्धा होती है। उस श्रद्धा का कारण बाह्य न होकर 'दर्शनमोहनीय' कर्म का क्षयोपक्षम होता है जिसके कारण सहज रुचि होती है।

तृतीय है सूत्र-रुचि। जिन-वाणी को सुनने की जो रुचि होती है वह 'सूत्ररुचि' है। जब तक शास्त्र श्रवण करने की रुचि न होगी, वहां धर्म के गम्भीर रहस्य ज्ञात नहीं हो सकते। इसलिए यह रुचि आवश्यक है। चतुर्थ है अवगाढ़ रुचि। अवगाढ़ का अर्थ गहराई में अवगाहन करना है। नदी, समुद्र या जलाशय में गहराई से डुबकी लगाना अवगाहन कहलाता है। मानव शास्त्रों का अध्ययन करता है, पर जब तक उस शास्त्र में अवगाहन नहीं करता, उसके अर्थ पर चिन्तन नहीं करता, तब तक उसके गुरुगम्भीर रहस्य का परिज्ञान नहीं होता। अवगाहन करने की रुचि से ही आगम के रत्न उपलब्ध होते हैं। इन चार लक्षणों से धर्मध्यानी की आत्मा की पहचान की जाती है। धर्मध्यान के चार आलंबन हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा।[1] इन चार आलम्बनों से धर्मध्यान में स्थैर्य प्राप्त होता है।

धर्मध्यान की चार भावनाएं बताई गई हैं—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा।[2] इन चार भावनाओं से मन में वैराग्य की लहरें तरंगित होती हैं। सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। और आत्मा शान्ति के क्षणों में विचरण करता है।

जैनाचार्यों ने ध्येय के सम्बन्ध में कहा है कि ध्येय तीन प्रकार का होता है—(१) परालंबन—दूसरों का आलंबन लेकर मन को स्थिर करने का जो प्रयास किया जाता है। जैसे एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर रखकर ध्यान करना। भगवान महावीर ने इस प्रकार का ध्यान किया था। (२) स्वरूपालंबन—बाह्य दृष्टि बन्द करके कल्पना के नेत्रों से स्वरूप का चिन्तन करना। इस आलंबन में अनेक प्रकार की कल्पनाएं संजोई जाती हैं। आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ-पदस्थ आदि जो ध्यान व धारणा के प्रकार बताये हैं, वे सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं। (३) ध्येय-निरवलंबन है। इसमें किसी प्रकार का अवलंबन नहीं होता। मन विचारों से पूर्णतया शून्य होता है। न मन में किसी प्रकार के विचार होते हैं और न विकल्प ही।

स्वरूपालम्बन में पिण्डस्थ आदि ध्यान के सम्बन्ध में बताया है, उनका स्वरूप इस प्रकार है—पिण्डस्थ ध्यान—पिण्ड का अर्थ शरीर है। एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर पिण्ड में स्थित आत्मदेव का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमें विशुद्ध आत्मा का चिन्तन किया गया है। प्रस्तुत ध्यान करने के लिए साधक वीरासन, पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन या किसी भी आसन में बैठकर आंखें झुका ले, दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर कर ले, मेरुदण्ड सीधा हो और स्थिर हो। यह ध्यानमुद्रा कहलाती है।[3] इस ध्यान-मुद्रा में अवस्थित होकर शरीरस्थ आत्मा का चिन्तन किया जाता है। साधक यह कल्पना करता है कि मेरा आत्मा पूर्ण निर्मल है। वह चन्द्र की तरह पूर्ण कान्तिमान है। वह मेरे शरीर में पुरुष-आकृति में अवस्थित है। और वह स्फटिक-सिंहासन पर बैठा हुआ है। इस प्रकार की कमनीय कल्पना से आत्मस्वरूप पर चिन्तन करना।

पिण्डस्थ ध्यान की आ० हेमचन्द्र ने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये पांच धारणाएं बताई हैं।[4] धारणा का अर्थ ध्येय में चित्त को स्थिर करना है।[5] अपने शरीर व आत्मा को पृथ्वी की पीतवर्ण कल्पना के साथ बांधना पार्थिवी धारणा है। प्रस्तुत धारणा में मध्यलोक को क्षीर समुद्र के सदृश स्वच्छ जल से परिपूर्ण होने की कल्पना की जाती है। उस क्षीर समुद्र में एक हजार दल वाले स्वर्ण-समान चमकते हुए कमल की कल्पना करें। उस कमल के बीच स्वर्णमय मेरुपर्वत की कल्पना करें। उस मेरुपर्वत के उच्चतम शिखर पर पाण्डव वन

---

१. देखिए : जैन आचार, पृ० ५९८
२. वही, 'अनुप्रेक्षा : एक अनुचिन्तन' लेख
३. अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते॥ गोरक्षाशतक, ६५
४. योगशास्त्र, ७/९
५. धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनम्। अभिधानचितामणि कोष, १/८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पाण्डुक शिला पर उज्ज्वल स्फटिक-सिंहासन सुशोभित हो रहा है, उस सिंहासन पर मेरा आत्मा योगी के रूप में आसीन है। इस प्रकार की कल्पना से उसका मन स्थिर हो जाता है। याज्ञवल्क्य[1] के अनुसार पृथ्वी-धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता।

आग्नेयी धारणा

पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा में प्रविष्ट होता है। वह कल्पना करता है कि आत्मा सिंहासन पर विराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पंखुड़ियों वाले रक्त कमल या श्वेत कमल की कल्पना की जाती है। और उन पंखुड़ियों पर अ, आ, ई, ऋ, ल्, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन स्वरों की स्थापना की जाती है और कमल के मध्य में 'ह्रँ' अक्षर की कल्पना की जाती है। कमल के ठीक ऊपर हृदय-स्थान में नीचे की ओर मुख किये हुए औंधे मुख वाले मटिया रंग के कमल की कल्पना की जाती है। और उसके प्रत्येक पत्ते पर श्याम रंग से लिखे हुए आठ कर्मों का चिन्तन किया जाता है। प्रस्तुत चिन्तन में नाभि में स्थित कमल के बीच लिखे हुए 'ह्रँ' अक्षर के ऊपरी सिरे रेफ में से धुआं निकल रहा है—इस प्रकार कल्पना की जाती है। उसी के साथ रक्त वर्ण की ज्वाला को भी कल्पना से अवलोकन करना चाहिए और वह ज्वाला प्रतिपल बढ़ती हुई आठ कर्मों को जला देती है। कमल के मध्य भाग को छेदकर ज्वाला मस्तक तक पहुंच जाए फिर यह चिन्तन करे कि ज्वाला की एक रेखा बाईं ओर से और दूसरी रेखा दाईं ओर से निकल रही है। और दोनों ज्वाला-रेखाएं नीचे आकर पुनः मिल जाती हैं। इस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोशवाला अग्नि-मंडल बनता है। उस अग्निमंडल से तीव्र ज्वालाएं धधकती हैं जिससे आठों कर्म भस्म हो जाते हैं। और आत्मा तेज रूप में दमकता है। उसके दिव्य आलोक में साधक अपना प्रतिबिंब देखता है। उपनिषदों के अनुसार, जिसको आग्नेयी धारणा सिद्ध हुई हो उस योगी को धधकती हुई आग में डाल दिया जाये तो भी वह जलता नहीं है।

वायवी धारणा

आग्नेयी धारणा से कर्मों को भस्म कर देने के पश्चात् पवन की कल्पना की जाती है और उसके साथ मन को जोड़ते हैं। साधक चिंतन करता है कि तेज पवन चल रहा है, उस पवन से आठ कर्मों की राख अनन्त आकाश में उड़ गई है, नीचे हृदय-कमल सफेद और उज्ज्वल हो गया है। जिसे वायवी धारणा सिद्ध हो जाती है वह योगी आकाश में उड़ सकता है। वायु-रहित स्थान में भी वह जीवित रह सकता है, और उसे वृद्धावस्था नहीं आती।

वारुणी धारणा

यह चतुर्थ धारणा है। पवन के आगे आकाश में उमड़-घुमड़कर घटाएं आ रही हैं, बिजली कौंध रही है, तेज वर्षा हो रही है और उस वर्षा से मेरे आत्मा पर लगी हुई कर्म-रूपी धूल नष्ट हो गयी है। आत्मा पूर्ण निर्मल और पवित्र हो गया है। कहा जाता है, जिसे जल-धारणा सिद्ध हो जाती है वह साधक अगाध जल में भी डूबता नहीं। उसके समस्त ताप और पाप शान्त हो जाते हैं।[2]

तत्त्वरूपवती धारणा

इसे तत्त्वभूधारणा भी कहते हैं। इसे आकाश-धारणा भी कहा गया है। इस धारणा में साधक यह चिन्तन करता है—मुझ में अनन्त शक्तियां हैं। मैं आकाश के समान अनन्त हूँ। जैसे आकाश पर किसी प्रकार का लेप नहीं होता, उसी तरह मुझ पर भी किसी प्रकार का लेप (आवरण) नहीं। वह आत्मस्वरूप का चिन्तन करता है।

इस तरह इस पिण्डस्थ ध्यान की पांच धारणाएं हैं। इन धारणाओं से साधक अपने ध्येय के सन्निकट पहुंचता है। इन धारणाओं के सिद्ध होने पर आत्म-शक्तियां अत्यधिक जाग्रत हो जाती हैं। इससे कोई भी शक्ति उसे पराभूत नहीं कर पाती।

पदस्थ ध्यान

ध्यान का दूसरा रूप पदस्थ है। पद का अर्थ अक्षरों पर मन को स्थिर करना। पवित्र पदों का अवलंबन लेकर चित्त को स्थिर किया जाता है।[3] इस ध्यान में मंत्र पदों की कल्पना से शरीर के विभिन्न स्थानों पर लिखा जाता है और उन अक्षरों को कल्पना-चक्षु से

---

१. योगवाशिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, पृ० ८१ से ६२

२. वही

३. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ॥ योगशास्त्र, ८/१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने का प्रयत्न किया जाता है। उन मंत्राक्षरों में एकात्मा की अनुभूति की जाती है। और वह उसी रूप में बनने का प्रयत्न करता है। जैसा ध्यान करता है वैसा ही साधक बन जाता है। यदि साधक रुद्र का चिन्तन करे तो रुद्र बनता है। और विष्णु का चिन्तन करे तो विष्णु। मनुष्य जिस स्वरूप का चिन्तन करता है उसी रूप में बन जाता है। पदस्थ ध्यान में उसी स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पदस्थ ध्यान को सिद्ध करने हेतु कितने ही जैनाचार्यों ने सिद्ध चक्र की कल्पना की है। इस सिद्ध चक्र में आठ पंखुड़ियों वाले श्वेत कमल की कल्पना की जाती है और उसके बीज कोश में **'नमो अरिहंताणं'** की कल्पना की जाती है और चारों दिशाओं में पंखुड़ियों पर 'नमो सिद्धाणं', 'नमो आयरियाणं', 'नमो उवज्झायाणं', 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों की स्थापना की जाती है, चार विदिशा में चार पंखुड़ियों पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप इन चार की कल्पना की जाती है। इन नौ पदों की स्थापना कर सिद्ध चक्र पर ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के स्थान पर "एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावपणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं" इन चार पदों की कल्पना की है। निरन्तर अभ्यास करने से आलंबन में अधिक दृढ़ता आती है। इसी तरह अन्य मन्त्रों की भी स्थापना की जा सकती है। आगम के किसी पद को भी लेकर ध्यान किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना होगा कि मन को एक ही विचारधारा में प्रवाहित करना होगा।

सिद्धचक्र की तरह अविनाशी आत्मस्वरूप का भी ध्यान किया जाता है। उसमें नाभि-कमल, हृदय-कमल, मुख-कमल पर अक्षरों की संस्थापना करके प्रत्येक अक्षर पर मन से चिन्तन किया जाता है। जैसे नाभिकमल के मध्य में अर्हं लिखा है तो सर्वप्रथम अर्हं के भावार्थ पर, उसके स्वरूप पर चिन्तन करना चाहिए; उसके पश्चात् अ आ इ ई प्रभृति अक्षरों पर चिन्तन करना चाहिए। उदाहरणार्थ अ अक्षर अरिहंत, उसका स्वरूप, उस पद को प्राप्त करने का उपाय, उसके साथ ही 'अ' याने अजर-अमर आदि के स्वरूप पर चिन्तन करना। उसके बाद 'आ' याने आत्मा, उसके स्वरूप और उसके दर्शन की कमनीय कल्पना से मन को भावित करना। जब चिन्तन-प्रवाह प्रारंभ होगा तब मन उसमें स्थिर हो जाएगा। जब वहां से मन तृप्त हो जाए तब उसे हृदय-कमल पर षोडशदल कमल के एक-एक अक्षर पर मन को घुमाना चाहिए जैसे क यानी कर्म, कर्म से मुक्त होने का उपाय क्या है ?[1] ख याने खंति याने क्षमा किस तरह से धारण करनी चाहिए, आदि प्रत्येक अक्षर पर चिन्तन करना चाहिए। उसके पश्चात् मुख कमल पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। इस तरह एक मुहूर्त तक मन-रूपी भौंरे को एक-एक अक्षर पर घुमाकर उसके अपूर्व आनन्द को लिया जा सकता है।

पदस्थ ध्यान में बीजाक्षरों पर भी चिन्तन किया जा सकता है। एकाक्षरी मंत्र ओ३म् आदि मंत्रों पर भी चिन्तन किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान

रूपयुक्त तीर्थंकर आदि का चिन्तन करना।[1] साधक एकान्त शान्त स्थान पर बैठता है। आंखें मूंदकर हृदय की आंखें खोल देता है। मन में विविध प्रकार की कल्पनाएं संजोता है। भगवान् का दिव्य समवसरण लगा हुआ है। मैं पावन प्रवचन-पीयूष का पान कर रहा हूं और नेत्रों से परिषद को निहार रहा हूं। इस प्रकार कल्पना करके रूप का ध्यान करना।

रूपातीत ध्यान

यह ध्यान का चतुर्थ प्रकार है। इसमें निरंजन-निराकार के सिद्ध स्वरूप का ध्यान किया जाता है। आत्मा स्वयं को कर्ममल-मुक्त सिद्धस्वरूप में अनुभव करता है। इस ध्यान में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं होती, न मन्त्र या पद का स्मरण होता है। साधक मन को इतना साध लेता है कि बिना किसी आलंबन के मन को स्थिर कर लेता है। वह यह जानता है कि मैं अरूप हूं, जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वरन् कर्मों का स्वभाव है। यह ध्यान विचारशून्य होता है। इस ध्यान तक पहुंचने के लिए प्रारंभिक भूमिका अपेक्षित है। इस ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान रूप मिट जाते हैं। जैसे नदियां समुद्र में अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं वैसे ही ध्याता और ध्यान भी एकाकार हो जाते हैं।

शुक्ल ध्यान

यह ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा है। जब मन में से विषय-वासनाएं नष्ट हो जाती हैं तो वह पूर्ण विशुद्ध हो जाता है। पवित्र मन पूर्णरूप से एकाग्र होता है, उसमें स्थैर्य आता है। शुक्ल ध्यान के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है—जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी उनकी ओर तनिक मात्र भी ध्यान नहीं जाता, उसके मन में वैराग्य की प्रबलता होती है। यदि इस ध्यान की स्थिति में साधक के शरीर पर कोई प्रहार करता है, उसका छेदन-भेदन करता है, तो भी उसके मन में किंचित् मात्र भी संक्लेश नहीं होता। भयंकर से

१. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। योगशास्त्र, ९/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भयंकर वेदना होने पर भी वह वेदना का अनुभव नहीं करता। वह देहातीत स्थिति में रहता है।

शुक्ल ध्यान के दो भेद किये गये हैं : शुक्लध्यान और परम शुक्लध्यान। चतुर्दश पूर्वी का ध्यान शुक्ल ध्यान और केवल ज्ञानी का ध्यान परम शुक्ल ध्यान है। प्रस्तुत भेद विशुद्धता और अधिकतर स्थिरता की दृष्टि से किया गया है।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्ल ध्यान के (१) पृथक्त्ववितर्क सविचार, (२) एकत्ववितर्क अविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती, (४) समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति—ये चार प्रकार हैं। 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' में तर्कयुक्त चिन्तन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिन्तन करना होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय पर चिन्तन करते हुए, कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर या कभी गुण पर, इस प्रकार भेद-प्रधान चिन्तन करना।

'एकत्ववितर्क सविचार' में जब भेद-प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है तो उसके पश्चात् अभेद-प्रधान चिन्तन प्रारंभ होता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप-पर्याय को ध्येय बनाया जाता है। जैसे, जिस स्थान में पवन नहीं होता वहां पर दीपक की लौ स्थिर रहती है, सूक्ष्म हवा तो उस दीपक को मिलती ही है, किन्तु तेज हवा नहीं। वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में सूक्ष्म विचार चलते हैं पर विचार स्थिर रहते हैं जिसके कारण इसे 'निर्विचार ध्यान' की स्थिति कहा गया है। एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होने से यह निर्विचार है।

'सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती' ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया चलती है। जिस विशिष्ट साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह पुनः ध्यान से च्युत नहीं हो सकता। इसीलिए इसे 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' कहा है। यह ध्यान छद्मस्थ व्यक्ति को नहीं होता। जिसे केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे ही इस ध्यान के अधिकारी हैं। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है, उस समय उस वीत-रागात्मा में योग-निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। स्थूल-काय योग के सहारे स्थूल मन-योग को सूक्ष्म रूप दिया जाता है, फिर सूक्ष्मकाय-योग के अवलंबन से सूक्ष्म मन और वचन का निरोध करते हैं। केवल सूक्ष्म काय-योग अर्थात् श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ही शेष रहती है। उस स्थिति का ध्यान ही प्रस्तुत ध्यान है। 'समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति' ध्यान में श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन हो जाता है। आत्म-प्रदेश पूर्णरूप से निष्कम्प बन जाता है। मन-वचन-काय के योगों की चंचलता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। यह निष्कम्प अवस्था है। इस क्रिया में साधक पुनः निवृत्त नहीं होता। इसीलिए इसे 'समुच्छन्न क्रिया अनिवृत्ति' शुक्ल ध्यान कहा है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव से वेदनीय कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुष्य कर्म—ये चारों कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

धर्म ध्यान श्वेताम्बर दृष्टि से छठें गुण स्थान से प्रारम्भ होता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा धर्मध्यान का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक मानती है। शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों में श्रुतज्ञान का आलंबन होता है, किन्तु शेष दो में किसी प्रकार का आलंबन नहीं होता।

शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग और चार आलंबन एवं चार अनुप्रेक्षाएं होती हैं। शुक्लध्यानी आत्मा (१) अव्यस्था—भयंकर से भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी किंचित् मात्र भी चलित नहीं होता। (२) असंमोह—उसकी श्रद्धा अचल होती है, न तात्त्विक विषयों में उसे शंका होती है और न देव आदि के द्वारा माया आदि की विकुर्वणा करने पर भी उसकी श्रद्धा डगमगाती है। (३) विवेक—वह आत्मा और देह के पृथक्त्व से परिचित होता है। वह अकर्तव्य को छोड़कर कर्तव्य के पथ पर बढ़ता है। (४) व्युत्सर्ग—वह सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त होता है। उसके मन में वीतरागभाव निरन्तर बढ़ता रहता है। इन चिह्नों से शुक्लध्यानी की सहज पहचान हो जाती है।

शुक्लध्यान के भव्य प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिए चार आलंबन बताये हैं—(१) क्षमा—क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी वह क्रोध नहीं करता; (२) मार्दव—मान का प्रसंग उपस्थित होने पर मान नहीं करता; (३) मार्जव—माया का परित्याग कर उसके जीवन के कण-कण में सरलता होती है; (४) मुक्ति—वह लोभ को पूर्ण रूप से जीत लेता है।

शुक्लध्यान की अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा एवं अपायानुप्रेक्षा—चार अनुप्रेक्षाएं हैं। प्रथम अनुप्रेक्षा में अनन्त भव-परम्परा के बारे में चिन्तन करता है। द्वितीय अनुप्रेक्षा में वस्तु में प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है, शुभ अशुभ में बदलता रहता है और अशुभ शुभ में परिवर्तित होता है। इस प्रकार के चिन्तन से आसक्ति न्यून हो जाती है। तृतीय अनुप्रेक्षा में संसार के अशुभ स्वरूप पर गहराई से चिन्तन होता है जिससे उन पदार्थों के प्रति निर्वेद भावना पैदा होती है। चतुर्थ अनुप्रेक्षा में जिन अशुभ कर्मों के कारण इस संसार में परिभ्रमण है, उन दोषों पर चिंतन करने से वह क्रोध-आदि दोषों से मुक्त हो जाता है। जब तक मन में स्थैर्य नहीं आता उसके पहले ये अनुप्रेक्षाएं होती हैं, स्थैर्य होने पर उसकी बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार ध्यान के स्वरूप के संबंध में गहराई से चिन्तन हुआ है और ध्यान को उत्कृष्ट तप कहा है। ध्यान ऐसी धधकती हुई ज्वाला है जिससे सब कर्म दग्ध हो जाते हैं और आत्मा पूर्ण निर्मल बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org